ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 153-160
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

बालक/बालिका का शारीरिक विकास

पूनम सोनकर
असिस्टेंट प्रोफेसर– गृह विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय पालिया कला, लखीमपुर खीरी (उ0प्र0) भारत

Received- 08.05.2019, Revised- 12.05.2019, Accepted - 15.05.2019 E-mail: -aaryvart2013@gmail.com

सारांश : ***बालक का विकास गर्भाधान से ही आरंभ हो जाता है और यह विकास निरंतर चलता रहता है। बालक का विकास गर्भावस्था में अधिक तीव्रता से होता है। विकास की गति गर्भावस्था में जितनी तीव्र होती है, जन्म के बाद किसी भी अवस्था में उतनी नहीं होती। लेकिन जन्म के पूर्व और बाद की अवस्था में होने वाले विकासों को एक दूसरे से अलग नहीं देख्याा जा सकता। बाल–मनोविज्ञान बाल–विकास का अध्ययन करता है। यह अध्ययन जन्म के पूर्व से ही आरम्भ हो जाता है। बालक के विकास में गर्भावस्था के विकास का बड़ा महत्व है। जन्म से पूर्व ही बालक में गर्भकाल के बाद की सारी क्षमताएं आ जाती है। वातावरण का प्रभाव गर्भस्थ बालक पर भी वैसा ही पड़ता है जैसा कि नवजात शिशु पर।***

कुंजीभूत शब्द– गर्भाधान, आरंभ, विकास, निरंतर, गर्भावस्था, तीव्रता, जन्म, वातावरण, अध्ययन, शिशु, प्रभाव।

गर्भस्थ शिशु–विकास की अवस्थाए– गर्भावस्था में जीव के विकास को मनोवैज्ञानिकों ने कई अवस्थाओं में बाँटा है। ये अवस्थाएँ अग्रलिखित हैं–

1– बीजावस्था
2– पिण्डावस्था
3– भ्रूणावस्था

1– बीजावस्था– यह काल गर्भाधान से लेकर दो सप्ताह तक का होता है। इस काल में जीव एक फलित रजाणु के रूप में रहता है। इसका रूप एक अण्डे के समान होता है और उसमें कोशों का लगातार विभाजन होता रहता है। उत्पत्तिकाल के दस दिन बाद यह अपनी माँ के गर्भाशय की दीवारों से सट जाता है और माँ से पोषाहार ग्रहण करता है।

2– पिण्डावस्था–यह अवस्था गर्भावस्था के दो सप्ताह बाद से दो मास तक का होता है। इसकी अवधि 6 सप्ताह की है। इस अवस्था में विकास की गति बहुत तीव्र होती है। इस समय कोष समूह में तीनों परतों का विकास होता है जिनके अनुसार शरीर के विभिन्न अंगों का विकास होता है। ये तीनों परत अग्र हैं–

क– बहिः स्तर
ख– मध्य स्तर
ग– अन्तः स्तर

क– बहिः स्तर– बहिःस्तर पर बाहरी त्वचा, बाल, नाखून, दाँतों के विभिन्न भाग, ज्ञानात्मक कोष तथा सम्पूर्ण स्नायु मण्डल का विकास निर्भर करता है।

ख– मध्य स्तर–मध्य स्तर परत पर त्वचा की भीतरी सतह, माँसपेषियाँ परिसंचरण तन्त्र, उत्सर्जी तन्त्र का विकास आधारित है।

3– अन्तःस्तर– अन्तः स्तर पर सम्पूर्ण पाचन तंत्र, फेफड़े, यकृत, प्लीहा, अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियाँ आदि का विकास निर्भर करता है।

दूसरे माह के अन्त तक पिण्ड की लम्बाई दो इंच तक और वजन लगभग दो सौ ग्राम तक हो जाता है। इस अवस्था में सबसे पहले सिर का विकास होता है फिर शेष अंगों का। शेष सभी अवयव सिर के अनुपात में छोटे होते हैं। इस अवस्था में लगभग सभी बाह्य तथा आन्तरिक अंगों का निर्माण हो जाता है। इसके बाद की अवस्था में उन अंगों के आकार में विकासक होता है।

3– भ्रूणावस्था– जीव के विकास में यह अवस्था आठवें सप्ताह के बाद आरंभ होती है। इस काल में परिवर्तन बहुत तेजी से होते हैं। इसकाल में पले जिन अवयवों का निर्माण हो चुका है उन्हीं अंगों का विकास होता है। तीसरे से चौथे महीने में गर्भस्थ षिषु की लम्बाई दुगुनी हो जाती है। इस अवस्था में आन्तरिक अंगों का कार्य आरंभ हो जाता है। चौदहवें से सोलहवें सप्ताह के मध्य स्ट्रेथोस्कोप द्वारा इनके हृदय की गति का पता लगाया जा सकता है। तीसरे महीने के अन्त में स्नायु संरचना का विकास हो जाता है। सातवें मास के अन्त में ये पूर्ण जीव का रूप ग्रहण कर लेते हैं तथा जीने योग्य हो जाते हैं। कहने का आषय की इस समय जन्म लेने पर ये जीवित रह सकते हैं।

गर्भस्थ शिशु के विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

1– माँ का आहार
2– माँ का स्वास्थ्य
3– मादक पदार्थ

4– माता–पिता की उम्र
5– दवाएँ
6– एक्सरे

बालक का शारीरिक विकास– मनुष्य का शारीरिक विकास स्वाभाविक रूप से लगातार चलता रहता है। बालक का शारीरिक विकास उसके व्यवहार से प्रभावित रहता है। विकास क्रम का अध्ययन करने पर पता चलता है कि बालक का शारीरिक विकास जन्म से 2 वर्ष तक तीव्र गति से होता है, फिर मन्द हो जाता है। किशोरावस्था में तीव्र होता है तथा उसके बाद फिर मन्द हो जाता है।

बालक के शारीरिक विकास को हम मूल रूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–

अ– बाह्य अंगों का विकास
ब– आन्तरिक अंगों का विकास

(अ) बाह्य अंगों का विकास– शरीर का प्रत्येक अवयव अपने विशेष नियमानुसार विकसित होता है। कोई अवयव जब किसी समय तीव्रता से बढ़ता है तब अन्य अवयव उसी समय मन्द गति से बढ़ते हैं लेकिन सभी अंगों का विकास लगातार होता है। बाहरी अंगों का विकास अग्रलिखित प्रकार से होता है–

1– कंकालीय विकास– जन्म के बाद प्रथम वर्ष में कंकालीय विकास बड़ी तीव्रता से होता है। कंकालीय विकास से आशय है हड्डियों की वृद्धि, हड्डियों की संख्या में अन्तर तथा हड्डियों की रचना में अन्तर। नवजात शिशु की कंकालीय रचना बड़ी नर्म होती है। कंकालीय विकास जन्म से पहले प्रारम्भ हो जाता है। नवजात शिशु के शरीर में लगभग 270 हड्डियाँ होती हैं। ये लचीली होती हैं। 13 या 14 वर्ष को होने पर हड्डियों की संख्या 350 हो जाती है तथा इनमें कड़ापन आ जाता है। किशोरावस्था के उपरान्त जब बालक परिपक्वता प्राप्त करता है तो बहुत सी हड्डियाँ आपस में जुड़ने लगती हैं और इनकी संख्या 206 रह जाती है। अस्थिपंजर के कुछ भागों में कुछ ऐसी हड्डियाँ होती हैं जो बाद में मिलकर एक हो जाती हैं। अठारह माह की अवस्था तक लगभग 50 प्रतिशत शिशुओं के कपाल की एक दूसरे से अलग हड्डियाँ आपस में जुड़ जाती हैं और दो वर्ष की अवस्था तक तो प्रायः सभी की जुड़ जाती हैं।

2– लम्बाई– जन्म के समय लड़के, लड़कियों से लम्बे होते हैं। 10 वर्ष की आयु तक लड़के क दमें लम्बे दिखाई देते हैं परन्तु 10–14 वर्ष तक लड़कियाँ लम्बाई में अधिक बढ़ती हैं। 15 वर्ष की आयु के बाद क दमें लड़के तेजी से बढ़ते हैं और लड़कियों से लम्बे दिखाई देते हैं। लड़के 18 वर्ष में तथा लड़कियाँ 16 वर्ष में पूरी लम्बाई प्राप्त कर लेती हैं। ऐसा भी देखा गया है कि यदि माता–पिता लम्बे होंगे तो संतान भी लम्बी होगी।

3– वजन– जन्म के समय शिशु का औसत वजन लगभग 3.6 किग्रा. होता है। जन्म के बाद पहले पाँच महीनों में वजन तेजी से बढ़ता है। उसके बाद वृद्धि कुछ मन्द पड़ जाती है। जन्मू के बाद प्रथम सप्ताह में शिशु का वजन कुछ कम होता है क्योंकि वातावरण के साथ व्यवस्थित होने में उसे कुछ समय लगता है।

जन्म के बाद नौ या दस वर्षो में बालकों की अपेक्षा बालिकाएँ कम वजन की होती हैं। 11 वें वर्ष से 14 वें वर्ष में लड़कियाँ लड़कों से वजन में अधिक होती हैं। क्योंकि उनमें यौवन अर्थात् परिपक्वता का आगमन जल्दी होता है। जब लड़के किशोरावस्था को प्राप्त करते। वे लड़कियों से आगे बढ़ जाते हैं। किशोरावस्था में वजन वयस्क आयु के वजन का लगभग दो–तिहाई होता है।

4– दाँतों का विकास– दाँतों के विकास की प्रक्रिया गर्भकाल के पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाती है। सामान्य रूप से आठवें मास के जन्म से पहला दाँत निकलता है। ऊपरी दाँतों की अपेक्षा निचले दाँत पहले निकलते हैं। भिन्न–भिन्न शिशुओं में दाँत निकलने की क्रिया भिन्न होती है। लड़कियों का पहला दाँत लड़कों की अपेक्षा जल्दी निकलता है। सामान्य बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा कम बुद्धि वाले बालकों के दाँत देर से निकलते हैं तथा कुशाग्र बुद्धि वाले बालकों के दाँत समय से पूर्व निकल आते हैं।

हर बालक के दो प्रकार के दाँत होते हैं–

1– अस्थाई दाँत

2– स्थाई दाँत– अस्थाई दाँतों को दूध के दाँत भी कहते हैं। ये संख्या में 20 होते हैं। छठे महीने के अन्दर पहला अस्थाई दाँत निकल आता है। इनके निकलते समय षिषु को कष्ट होता है। दस्त, ज्वर आदि रोग हो जाते हैं। ये देखने में छोटे होते हैं। अस्थाई दाँतों के गिर जाने पर स्थाई दाँत मसूढ़ों से ऊपर निकल आते हैं।

साधारणतः छः वर्ष की अवस्था से अस्थायी दाँत टूटने लगते हैं तथा स्थायी दाँत निकलने लगते हैं। स्थाई दाँत की संख्या 2 होती है। 12 वर्ष की आयु तक 24–26 दाँत तथा 14 वर्ष की आयु तक 28 दाँत निकल आते हैं। उसके बाद 17–25 वर्श तक 4 अक्लदाढ़ निकल आते हैं।

5– शारीरिक अनुपात– बालक के शरीर का अनुपाल वयस्क के शरीर के अनुपात से भिन्न होता है। उसके शरीर के भिन्न अंग भिन्न–भिन्न अनुपात में बढ़ते हैं। सभी शारीरिक अवयव एक साथ ही परिपक्वता नहीं प्राप्त करते, कुछ जल्दी परिपक्व होते हैं और कुछ देर में।

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

परन्तु देखा गया है कि 17–18 वर्ष आयु तक सभी शारीरिक अवयव एक निश्चित अनुपात में परिपक्व हो जाते हैं।

जन्म के समय बालक के शारीरिक अवयव छोटे–छोटे तथा नर्म होते हैं। उसके विभिन्न शारीरिक अवयवों का विकास अग्रलिखित प्रकार से होता है।

अ– सिर– नवजात शिशु का सिर अन्य अंगों की अपेक्षा बड़ा दिखाई देता है। उस समय सिर तथा सारे शरीर का अनुपात 1 : 4 का होता है। प्रथम दो वर्ष में सिर का विकास तेजी से होता है लेकिन 15–16 वर्ष की अवस्था तक वह पूर्ण विकसित होता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में लड़के के सिर का आकार लड़की की तुलना में बड़ा होता है। प्रौढ़ावस्था तक पहुँचने पर सिर का आकार जन्म से तिगुना हो जाता है। प्रौढ़ व्यक्ति के सिर तथा शरीर का अनुपाल 1 : 7 हो जाता है। बालक के सिर में खोपड़ी का भाग अधिक तथा चेहरे का भाग कम होता है। बालक का सिर चौड़ाई में अधिक और लम्बाई में कम होता है लेकिन प्रौढ़ व्यक्ति का सिर चौड़ा कम तथा लम्बा अधिक होता है।

ब– चेहरा– नवजात शिशु का चेहरा सिर की तुलना में छोटा है। नीचे का हिस्सा कम तथा ऊपर का हिस्सा बड़ा होता है, क्योंकि बालक के दाँत नहीं होते। फिर अस्थाई दाँत निकलते हैं जो कि छोटे होते हैं। प्रथम सात वर्षों में चेहे की हड्डियाँ बढ़ने लगती हैं तथा स्थायी दाँत भी निकलने आरंभ हो जाते हैं। स्थायी दाँत निकलने पर चेहरे के नीचे का हिस्सा बड़ा दिखाई देने लगता है। किशोरावस्था आने पर माथा चपटा तथा ओठ भर जाते हैं और चेहरा अण्डाकार दिखाई देने लगता है। नाक की कोमलास्थित के बढ़ने से वह सुडौल होने लगता है। 13–14 वर्ष की अवस्था तक नाक का पूर्ण विकास हो जाता है। परिवक्वता प्राप्त करते ही लड़की के चेहरे पर लड़के की अपेक्षा कोमलता और सुन्दरता आ जाती है।

स– धड़– प्रारम्भ में बालक के धड़ का विकास, सिर और चेहरे की तुलना में धीमी गति से होता हैं 6 वर्ष की आयु तक बालक का धड़ जन्म से दुगुना हो जाता है। नवजात शिशु की छाती गोलाकार, गर्दन छोटी और कंधे ऊँचे होते हैं। किशोरावस्था आने पर धड़ की लम्बाई में पचास प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। परिपक्वता के समय वह जन्म से तिगुना हो जाता है। छाती चौड़ी, गर्दन लम्बी और कंधे झुके होते हैं। किशोरावस्था में कूल्हें बढ़ जाते हैं।

द– हाथ व पैर– नवजात शिशु के हाथ व पैर छोटे तथा कोमल होते हैं। अगुलियाँ छोटी और नर्म होती हैं। जन्म के समय बालक की टाँगे बाहों की अपेक्षा बहुत छोटी होती है तथा मुड़ी हुई होती हैं। जैसे–जैसे टाँगों की लम्बाई बढ़ती जाती है वे सीधी होती जाती हैं। 6 वर्ष की आयु से पहले बालक की टाँगे एवं घुटनले सीधे हो जाते हैं। जन्म के समय बालक की टाँगे उसकी बांहों की अपेक्षा बहुत छोटी होती हैं। दो वर्श की आयु तक टाँगों का विकास हाथों की तुलना में धीमा होता है। 8–16 वर्ष की आयु में बाहों का विकास मंद गति से होता है और इस समय टाँगों का विकास तेजी से होता है। किशोरावस्था में पैरों की लम्बाई जन्म से चार गुना हो जाती है तथा लम्बाई बढ़ने के बाद माँसपेषियों का विकास भी तेजी से होने लगता है।

ब– आन्तरिक अंगों का विकास– आन्तरिक अंगों का विकास अग्रलिखित प्रकार से होता है–

1. स्नायु मण्डल– स्नायु मण्डल का विकास जन्म से पहले ही प्रारम्भ हो जाती है। जन्म के समय तक सारे स्नायु कोषों का निर्माण हो जाता है। जन्म के बाद नए कोषों का निर्माण न होकर अविकसित स्नायु कोषों का विकास होता है। जन्म के बाद तीन–चार वर्षों तक स्नायु मण्डल का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है।

2. मस्तिष्क– जन्म के समय मस्तिष्क सारी क्रियाएँ नहीं कर सकता, तब उसका व्यवहार निम्न केन्द्र, सुषुम्ना नाड़ी द्वारा संचालित होता है बाद में उच्च केन्द्रों जैसे वृहद मस्तिष्क द्वारा संचालित होता है। जन्म के बाद प्रारम्भिक चार वर्षों में मस्तिष्क का विकास बड़ी तेजी से होता है। 4–8 वर्ष की आयु में यह विकास थोड़ा मन्द हो जाता है। उसके बाद 16 वर्ष की आयु तक मस्तिष्क के विकास की गति फिर कुछ बढ़ जाती है। जन्म के समय बालक के मस्तिष्क का भार 350 ग्राम होता है। परिपक्वता प्राप्त करने पर मस्तिष्क का भार 1260 से 1400 ग्राम हो जाता है।

3. पाचन प्रणाली– शिशु का पेट, नलिका के जैसा होता है तथा तिरछा रहता है जिसके कारण कुछ वस्तु ले लेने के बाद उदर शीघ्र खाली हो जाता है। इसी कारण उसकी भोजन ग्रहण करने की शक्ति बहुत कम होती है। बालक अग्रलिखित प्रकार से एक बार में भोजन ग्रहण कर सकता है–

इसके बाद पेट थोड़ा बढ़ने लगता है। वयस्क व्यक्ति का पेट थैली जैसा होता है। इस कारण वयस्क मात्रा में भोजन ग्रहण कर सकता है। शिशु का पेट जल्दी खाली होता है। अतः पहले वर्ष शिशु को और वर्षों की तुलना में अधिक बार दूध पिलाने की आवश्यकता रहती है। अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक खाते हैं तथा अधिक क्रियाशील रहते हैं। बच्चों की आँतें छोटी तथा कोमल होती हैं। उनसे पाचक रस भी कम मात्रा में स्रवित होते हैं। आयु के साथ–साथ वे बढ़ते हैं। किशोर तथा प्रौढ़ व्यक्ति का पेट देर से खाली होता है।

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

4. श्वसन प्रणाली– नवजात शिशु के फेफड़ें छोटे हैं। इसलिए वह जल्दी–जल्दी साँस लेता है। इसलिए उसकी श्वसन क्रिया अधिक होती है। आयु के साथ–साथ फेफड़ों के आकार में वृद्धि होती है जिससे साँस लेने की क्षमता भी बढ़ जाती है, फलस्वरूप श्वसन क्रिया में कमी आने लगती है। किशोरावस्था में श्वसन क्रिया धीमी, गहरी तथा नियमित हो जाती है। 17 वर्ष की अवस्था में लड़कियों के फेफड़े पूर्ण रूपेण विकसित हो जाते हैं। लड़कों में इसका पूर्ण विकास थोड़ी देर से होता है। उम्र के साथ–साथ बालकों की श्वसन क्रिया में अन्तर आता जाता है।

5. हृदय और रक्त परिभ्रमण– नवजात शिशु का हृदय छोटा होता है। और धमनियाँ अपेक्षाकृत बड़ी होती हैं। अतः बचपन में रक्तचाप कम रहता है। हृदय छोटा होने पर रक्त को जल्दी–जल्दी पम्प करना पड़ता है जिसे कारण नाड़ी की गति अधिक होती है। आयु बढ़ने के साथ–साथ हृदय के आकार में वृद्धि तथा धमनियों की चौड़ाई के अनुपात में कमी होने के कारण रक्तचाप बढ़ने लगता है तथा नाड़ी की गति कम होने लगती है। किशोरावस्था में हृदय का माप पहले से बढ़ जाता है। इस अवस्था में हृदय की माँसपेशियाँ आकार और संख्या दोनों में बढ़ती हैं। जन्म के समय नाड़ी की गति अधिक होती है, आयु बढ़ने के साथ–साथ नाड़ी की गति कम होती जाती है। जन्म के समय नाड़ी की गति अधिक होती है, आयु बढ़ने के साथ–साथ नाड़ी की गति कम होती जाती है। इसको अग्रलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है वाल्यावस्था में माँसपेशियाँ बड़ी कोमल होती हैं और हड्डियों के साथ चिपकी रहती हैं। उस समय उनमें ठोस पदार्थ अल्प मात्रा में होते हैं। धीरे–धीरे उनमें ठोस पदार्थ की मात्रा अधिक होती जाती हैं और वे दृढ़ हो जती हैं और बालक में क्रियाशीलता बढ़ जाती है। किशोरावस्था के बाद लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की माँसपेशियाँ अधिक बड़ी तथा सुदृढ़ होती है।

(ब) चर्बी– बाल्यावस्था में माँसपेशियों के तन्तुओं की अपेक्षा चर्बी के तन्तुओं का विकास अधिक शीघ्रता से होता है। जन्म के समय बालक में चर्बी की मात्रा अधिक होती है, बाद में कम होने लगती है। सामान्य रूप से आरंभ में चर्बी की मात्रा तीव्र गति से बढ़ती है बाद में धीरे–धीरे बढ़ती है। 4 वर्ष की आयु के बाद यह घटने लगती है। चर्बी की मात्रा अनुवंशिकता तथा भोजन पर निर्भर करती है। इसलिए देखा गया है कि सम्पन्न घरानों के बालकों में आम तौर पर चर्बी की मात्रा अधिक पाई जाती है। बालकों में चर्बी और माँसपेशियों की मात्रा उसके शरीर की बनावट पर निर्भर करता है। गोलाकार व्यक्तियों में चर्बी के तन्तु अधिक होते हैं और माँसपेशियों के कम लम्बाकार व्यक्तियों में इसके विपरीत होता है।

नवजात शिशु की विशेषताएँ– नवजात शिशु में कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं जो न तो वयस्कों में दृष्टिगोचर होती हैं और न पशुओं में ही पाई जाती हैं। ये विशेषताएँ मुख्य रूप से तीन हैं–

1. पराधीनता– शिशु की सबसे बड़ी विशेषता उसकी पराधीनता है। अपनी सभी बातों के लिए उसे दूसरों क अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। मानव शिशु का यह असहायपन व्यर्थ नहीं है। यह विकास की एक सीढ़ी है जो आगे आने वाले जीवन के लिए उसको तैयार करती है।

2. व्यक्तिगत भिन्नता– शिशु व्यवहार की दूसरी बड़ी विशेषता है–व्यक्तिगत भिन्नता। एक मानव शिशु का व्यवहार दूसरे मानव शिशु से नहीं मिलता, चाहे वे एक ही परिवार के क्यों न हों। इस प्रकार उनकी बौद्धिक योग्यताओं में भी अन्तर होता है।

3. समायोजनशीलता– शिशु स्वभाव की तीसरी बड़ी विशेषता उसकी समायोजनशीलता है। शिशु में परिस्थिति के अनुसार अपने आपको समायोजित करने की जिनती क्षमता होती है, उतनी वयस्कों में नहीं होती। इसका कारण यह है कि वे नैसर्गिक अथवा उपार्जित आदतों के दास होते हैं। उन पर जैसे संस्कार डाले जाएँगे, वे वैसे ही बन जाएँगे।

नए वातावरण के साथ समायोजन– जन्म के समय शिशु को एकाएक नवीन वातावरण प्राप्त होता है। नए वातावरण के साथ नवजात शिशु चार प्रकार से समायोजन स्थापित करता है–

1. नए तापमान के साथ समायोजन– शिशु जब माँ के गर्भ में था तब उसके एक–सा तापमान मिलता था, परन्तु जन्म के साथ ऋतु के अनुसार भिन्न तापमान प्राप्त होता है, इसके अनुसार शिशु को रहना पड़ता है।

2. स्वतन्त्र रूप से साँस लेने की क्रिया– शिशु माँ के गर्भ में नाभिरज्जु द्वारा ऑक्सीजन प्राप्त करता है परन्तु जन्म के बाद वह काट दी जाती है, अतः नवजात शिशु को स्वतन्त्र रूप से साँस लेने पड़ती है। प्रसव के पश्चात् यह इस बात का परिचायक है कि नवजात शिशु ने बाहरी वातावरण में साँस लेना प्रारम्भ कर दिया है।

3. मुख द्वारा पोषण प्राप्त करना– पहले शिशु गर्भनाल द्वारा पोषण प्राप्त करता था, परन्तु अब उसे मुख से पोषण प्राप्त करना पड़ता है। प्रारम्भ में बालक की चुसने तथा निगलने की क्रिया अविकसित रहती है।

4. उत्सर्जक क्रिया– जन्म के कुछ समय बाद नवजात शिशु के उत्सर्जक अवयव काम करने लगते हैं।

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

पहे यह कार्य नाभिरज्जु तथा गर्भनाल द्वारा होता था। नवजात शिशु उपर्युक्त समायोजन कितने समय में प्राप्त कर लेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसका जन्म कैसे हुआ है जिस बालक का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ है तथा जो बालक पूर्ण रूप से स्वस्थ है वह वातावरण के साथ शीघ्र ही समायोजन कर लेता है। जिस बालक में जन्मजात दुर्बलता, विकृत आकृति, प्रसव के समय चोट आदि का होना पाया जाता है वह नए वातावरण के साथ समायोजन स्थापित नहीं कर पाता। प्रसवोपरान्त शुरू के तीन दिन नव शिशु के लिए संकट के दिन होते हैं। अतः इस समय विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

जन्म से 12 वर्ष तक लिंग भेद और परिवर्तन– मनुष्य एक बराबर विकसित होने वाला प्राणी है तथा उसका यह विकास विभिन्न सोपनों से होकर गुजरता है। सामान्य रूप से विभिन्न दशाओं में होने वाला शारीरिक विकास लगभग सभी व्यक्तियों में एक सा देखा जा सकता है। परन्तु साधारणतया लड़की में लड़के की अपेक्षा प्रत्येक दषा दो वर्ष पहले आती है। शारीरिक विकास पर लिंग भेद का प्रभाव पड़ता है। जन्म के समय लड़की की अपेक्षा लड़का अधिक बड़े आकार का होता है। परन्तु बाद में लड़कियों का शारीरिक विकास लड़कों तुलना में बहुत तेजी से होता है। परिपक्व भी पहले होती हैं जन्म से 12 वर्ष की आयु तक लड़के तक लड़के तथा लड़कियों मं विकास की गति तीव्र होती है। इसको निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है–

जन्म से 3 वर्ष की आयु तक– यह काल शैशवावस्था कहलाता है। इसे संचय काल भी कहते हैं। संजय काल में शिशु का विकास तेजी से होता है। पहले वर्ष में लम्बाई 50 प्रतिशत तक बढ़ती है। वजन छः महीनों में दुगुना तथा पूरे वर्ष में तिगुना हो जाता है। सिर, पैरों तथा हाथों का विकास भी तेजी से होता है। मस्तिष्क का भार 4 वर्ष की आयु तक 80 प्रतिशत हो जाता है, शेष 20 प्रतिशत भाग आगे के वर्षों में पूरा बढ़ता है। यौनेन्द्रियों का विकास मस्तिष्क के विकास से उल्टी गति से होता है। शैशवावस्था में यौन सम्बन्धी अंगों का विकास बहुत ही मन्द गति से होता है परन्तु किशोरावस्था के आगमन पर तीव्र गति से होने लगता है।

3–6 वर्ष की आयु तक– यह अवस्था पूर्ण बाल्यावस्था भी कहलाती है। यह शैशवावस्था के बाद तथा बाल्यावस्था के पूर्व का समय है। पहले 3 वर्षों में शिशु जो संचय करता है वह इन अगले तीन वर्षों में दृढ़ तथा स्थिर हो जाता है। यह परिपक्व अवस्था है। इस आयु में शारीरिक विकास नहीं होता वरन् पिछला विकास ही दृढ़ होता है। इस समय बालक के विकास पर बराबर ध्यान देना चाहिये।

6 से 11 या 12 वर्ष की आयु तक– बाल्यावस्था 6 से 11 या 12 वर्ष तक मानी गयी है। इस अवस्था को दो भागों में बाँटा गया है। 6 से 9 वर्ष तक संचय काल तथा 10 से 11 या 12 वर्ष तक परिपक्व काल।

संचय काल में बालक चंचल तथा अस्थिर दिखाई पड़ता है। इस समय शारीरिक विकास तेजी से नहीं होता। शारीरिक विकास का समय 2 वर्ष की आयु में तथा फिर 12 वर्ष की आयु में होता है। इस समय बालक अपने चारों ओर की वस्तुओं में रूचि लेने लगता है। नयी चीजों में उसकी उत्सुकता बढ़ती है। इस समय बालक के शारीरिक विकास के लिए खेलों का विशेष महत्व है। स्कूलों में शारीरिक शिक्षा दी जा सकती है।

परिपक्व काल में बालक में सामाजिक भावना का विकास होता है। उसे दूसरों से मिलने–जुलने देना चाहिये। इस समय बालक धीरे–धीरे परिपक्व होने लगता है। अतः उसमे स्वस्थ आदतों का निर्माण किया जा सकता है।

11 या 12 वर्ष की आयु में– इस आयु में किशोरावस्था का प्रारम्भ होता है। इस समय शारीरिक विकास बहुत तेजी से होता है। लड़कियों में शारीरिक विकास लड़कों की अपेक्षा जल्दी होता है। लड़कियाँ लड़कों से लम्बी दिखाई देती हैं। इस आयु में किशोर 90 प्रतिशत लम्बाई प्राप्त कर लेते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में ऊँचाई और वजन की तेजी पहले आती है और पहले समाप्त होती है। इसीलिए किशोर लड़की अपनी आयु के लड़के से अधिक विकसित दिखती है।

इस आयु में शारीरिक शिक्षा का विशेष महत्व है। यौन शिक्षा भी आवश्यक है। क्योंकि इस आयु में लड़कों तथा लड़कियों में लिंग सम्बन्धी अंगों का विशेष विकास होता है। लड़की का शरीर स्त्री के अनुरूप विकसित होने लगता है। उसके अंगों विशेषतया स्तनों तथा नितम्बों में गोलाई आ जाती है। आवाज भी अधिक मधुर हो जाती है। मासिक स्त्राव भी प्रारम्भ हो जाता है और शारीरिक ढाँचा भी दृढ़ हो जाता है। किशोरावस्था से एक या दो वर्ष बाद स्त्री पुरुश में सत्तानोत्पति की सामर्थ्य आ जाती है।

शारीरिक विकास पर जैवकीय प्रभाव– बालक के शारीरिक विकास पर जैवकीय कारणों का प्रभाव पड़ता है। उन्हीं के कारण बालक का विकास सामान्य अथवा असामान्य होता है। इन जैवकीय कारणों में प्रमुख हैं–

1. अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियाँ
2. भोजन
3. स्वास्थ्य की देखभाल।

1. अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियाँ– शरीर में किनी ही

PIF/3.007 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

ऐसी ग्रन्थियाँ हैं जिनका रस सीधे रक्त में चला जाता है, किसी नलिका द्वारा ग्रन्थि से बाहर नहीं निकलता। यह रस एक रासायनिक पदार्थ होता है। जिसे हार्मोन कहते हैं। इन ग्रन्थियों को अन्तः स्रावी या नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ जीवन की क्रियाओं और घटनाओं के लिए बड़े महत्व की हैं, इनका अन्तःस्राव शरीर की भौतिक घटनाओं में विशेष रूप से भाग लेता है। हार्मोन शरीर की क्रियाएँ नियन्त्रित होती है। अतः इनको शरीर का 'रासायनिक मस्तिष्क' कहा जाता है। इनका शारीरिक विकास पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। ये ग्रन्थियाँ निम्नलिखित हैं–

1. अवटुका ग्रन्थि– यह ग्रन्थि श्वास नाल के दोनों ओर स्थित है। यह एक स्राव बनाती है जिसे थायरोक्सीन कहते हैं। ग्रन्थि की क्रिया के कम होने से जो लक्षण होते हैं वे अल्पवटुता कहलाते हैं। बाल्यावस्था में इस दशा के कारण सबसे अधिक प्रभाव शारीरिक वृद्धि पर पड़ता है। बालक की लम्बाई नहीं बढ़ती। 12 वर्ष का बालक चार वर्ष का सा दिखाई देता है, मानसिक विकास मन्द हो जाता है। युवावस्था के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं। बच्चों में चिड़चिड़ापन आ जाता है। इस ग्रन्थि की क्रिया अधिक होने से उत्पन्न दशा को अत्यवटुता कहते हैं। इसमें स्राव अधिक होने के कारण हृदय की धड़कन तथा रक्तचाप बढ़ जाता है। नेत्र बड़े–बड़े तथा बाहर को निकले दिखाई देते हैं।

2. परावटुका ग्रन्थि– ये थायराइड ग्रन्थि के साथ जुड़ी रहती है। इनके स्राव को पेराथारमोन कहते हैं। इसका प्रभाव हड्डियों तथा माँसपेशियों के विकास पर पड़ता है। स्राव के कम या अधिक बनने पर विकास मन्द या तीव्र हो जाता है। इसकी क्रिया की कमी से पेशियों में कम्पन होने लगता है। क्रिया की अधिकता से शरीर में दुर्बलता आ जाती है।

3. पीयूषिका ग्रन्थि– शरीर की प्रायः प्रत्येक क्रिया का नियन्त्रण इस ग्रन्थि द्वारा होता है। अन्य अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की क्रियाएँ इसी ग्रन्थि पर निर्भर करती है। यह ग्रन्थि कपाल के भीतर स्थित है।

इसके अगले भाग के स्राव के कम होने से बालक बौना रह जाता है तथा स्राव के अधिक होने से अत्यधिक लम्बा हो जाता है। और सामान्य से अधिक उम्र का दिखाई देता है। इसका प्रभाव वृक्क की क्रिया पर भी पड़ता है। इसके पिछले भाग का प्रभाव रक्त दाब पर पड़ता है। कार्बोहाइड्रेट के चयापचय पर भी यह प्रभाव डालती है।

4. अधिवृक्क– ये ग्रन्थियाँ वृक्क के ऊपरी भाग के स्थिर रहती है। इस ग्रन्थि के दो भाग होते हैं। एक बाहर का भाग जो प्रान्तस्था कहलाता है। यह भाग जीवन के लिए आवश्यक है। यह शरीर की एक प्रयोगशाला है जिसमें अन्क रासायनिक वस्तुएँ बनती है। इसके स्राव की कमी से भूख बन्द हो जाती है, शरीर का भार कम हो जाता है, ग्लूकोज तथा जल की कमी हो जाती है। इस प्रकार वृक्क ठीक से काम नहीं कर पाता। इसका प्रमुख कार्य रक्त दाब बढ़ाना है। इसके प्रभाव से यकृत की ग्लाइकोजिन ग्लूकोज में परिवर्तित होकर रक्त में आने लगती है। परिश्रम के समय जब माँसपेशियों को अधिक ग्लूकोज की आवश्यकता होती है तब वह इसी प्रकार प्राप्त होती है।

5. लिंग ग्रन्थियाँ– पुरुष में अण्ड ग्रन्थि तथा स्त्री में डिम्बग्रन्थि लिंग ग्रन्थियाँ कहलाती है। अण्डग्रन्थि, अण्डकोष में रहती है। इसके एक भाग की कोशिका उत्पन्न करती है तथा दूसरा भाग पुरुष हारमोन उत्पन्न करता है। इसके प्रभाव से पुरुषत्तव के लक्षण प्रकट होते हैं। डिम्ब ग्रन्थियाँ डिम्ब बनाने का कार्य करती हैं। इनमें जो हार्मोन बनता है उसे स्त्री हार्मोन कहते हैं। यह हार्मोन स्त्रीत्तव के लक्षण उत्पन्न करता है। इसमें पाचक रस के अतिरिक्त एक अन्तः स्राव बनता है जिसे इंसुलिन कहते हैं। इस हार्मोन पर कार्बोहाइड्रेट का चयापचय निर्भर करता है। इसकी कमी से रक्त में ग्लूकोज एकत्र होने लगता है तथा मूल द्वारा शरीर से निकलने लगता है। इस रोग को मधुमेह कहते हैं।

6. बालग्रन्थि– बाल्यकाल में यह ग्रन्थि वक्ष के भीतर ऊपरी भाग में स्थित होती है तथा हृदय से सटी रहती है। ज्यों–ज्यों आयु बढ़ती है यह ग्रन्थि छोटी होती जाती है। युवावस्था तक समाप्त हो जाती है। इस ग्रन्थि का अस्थियों की वृद्धि से माना जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उचित शारीरिक विकास के लिए अन्तः स्रावी ग्रन्थियों का ठीक से कार्य करना आवश्यक है।

2. भोजन– शिशु के भोजन पर विशेष रूप से दिया जाना चाहिये क्योंकि शारीरिक विकास तीव्र गति से होने के कारण शैशवावस्था में भोजन सन्तुलित और उपयुक्त समय पर होना आवश्यक है। सामान्य रूप से सभी वैज्ञानिक तथा डॉक्टर यह मानते हैं कि शैशवास्था में सबसे उत्तम भोजन दूध है। क्योंकि इस अवस्था में हड्डियाँ तेजी से बढ़ती हैं और दूध इसके लिए आवश्यक है जिससे प्रोटीन तथा कैल्शियम मिलता है। सामान्य रूप से गाय का दूध सर्वोत्तम माना गया है, यह पचने में हल्का होता है। शिशु के दूध के दाँतों के लिए दूध उपयुक्त आहार है। दूध के दाँत कड़े आहार को चबा नहीं सकते हैं तथा आँतें ठीक से पचा नहीं सकती।

3. स्वास्थ्य की देखभाल– शैशवावस्था में देखभाल की अधिक आवश्यकता होती है। जिस प्रकार पानी, हवा, औश्र अच्छी देखभाल होने पर पौधा स्वयं विकसित होता है

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

उसी प्रकार भोजन, वस्त्र, नींद, आराम आदि पर्याप्त मात्रा में मिलने पर शिशु स्वयं विकसित होता है। इस समय स्वास्थ्य पर ध्यान देना आवश्यक है। जो व्यक्ति शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में बहुत बीमार रहे हैं उनका बड़े होने पर भी स्वास्थ्य अच्छा नहीं देखा गया। अतः जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के स्वास्थ्य का मनुष्य पर अत्याधिक पड़ता है। शिशु अवस्था में हड्डियाँ बहुत कोमल होती हैं इसलिए शिशु को सफाई आदि में सावधानी रखनी चाहिये तथा उसकी अच्छे तेल से हल्के हाथों से मालिश करके जाड़ों में धूप में सुलाना चाहिये। शिशु के वस्त्र थोड़े ढ़ीले होने चाहिए। शिशु को निश्चित समय पर ट्रिपिल का टीका खसरा का टीका बी. सी. जी. का टीका तथा पोलियो डोज डिलवानी चाहिये ताकि वह इन रोगों से बचा रहे।

1. उत्तम स्वास्थ्य– बालक का शारीरिक स्वास्थ्य सामान्य विकास तथा गति के लिये अनिवार्य है। यदि बालक का स्वास्थ्य खराब है तो उसका शारीरिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। बचपन की बीमारी उसके भावी व्यवहार को भी प्रभावित करती है। स्वास्थ्य पर भोजन और उसके तत्वों का प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ बालक के होठ लाल रहते हैं, अंग सुडौल होते हैं, वसा तथा मांस–पेशियां सन्तुलित रहती हैं। उत्तम स्वास्थ्य ही शरीर को सन्तुलित रूप से विकसित करता है।

2. अति संवेदनशीलता– कुछ बालकों में संवेगों के प्रति संवेदनशीलता विकसित हो जाती है। ऐसे बालक बार–बार बीमार पड़ते हैं। इस स्थिति को परिवर्तित करने के लिए 2–8 वर्ष की आयु में बालक को सक्रिय रखना चाहिये। इसी अवस्था में बालक के स्वास्थ्य एवं उसके रोगों के प्रति भी सचेत रहना चाहिये।

3. सामान्य बीमारी– बच्चों में सर्दी, जुकाम चेचक, शीतलता, एलर्जी आदि अति सामान्य बीमारियाँ पाई जाती हैं। यदि इन बीमारियों के प्रति सावधानी नहीं बरती जाती है तो शरीर के विकास को ये अवरूद्ध कर देती हैं। इस प्रकार टांसिल्स आदि बीमारियों का भी शरीर के विकास पर प्रभाव पड़ता है।

4. काल्पनिक बीमारी– कुछ बच्चों में अपने अस्तित्व को व्यक्त करने हेतु काल्पनिक रूप से बीमार पड़ने की प्रवृत्ति होती है। बालक यद्यपि बीमार नहीं होता किन्तु वह अचेतन रूप से अपने को बीमार कहता है और इस काल्पनिक बीमारी का प्रभाव उसके शरीर के विकास पर पड़ता है।

5. लम्बी बीमारी– यदि बालक लगातार लम्बे समय तक बीमार रहता है तो उसके आन्तरिक अवयवों का विकास अवरूद्ध हो जाता है और उनके पुनः स्वाभाविक स्थिति में आने के लिए पर्याप्त समय लगता है। यदि बालक स्कूल जाता है तो वह कक्षा में पिछड़ जाता है, उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन हो जाता है।

6. शारीरिक दोष– किसी भी प्रकार का शारीरिक दो हो, उसका प्रभाव बालक के मानसिक, संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर पड़ता है। रयूमेटिक ज्वर से पीड़ित बालक का ह्रदय कमजोर हो जाता है। और उसमें लड़ने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। षारीरिक दोषों में दन्तक्षय वाणी दोष, श्रवण एवं दृष्टि दोष, हड्डियों के दोष, स्नायु प्रणाली के दोष, तुतलाना, चेहरे पर जन्म से ही दाग होना, कूबड़, भैंगापन आदि बालक में अनेक व्यवहार तथा समायोजन सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न करते हैं।

शरीर के विकास को अवरूद्ध करने में नेत्र, ह्रदय तथा हारमोन सम्बन्धी दोषों का योग रहता है। शारीरिक दोषों का प्रभाव विकास की अवस्थाओं के अनुसार होता है। यदि सामान्य बालक बीमार होता है तो उसका प्रभाव शरीर के विकास पर कम होता है।

यदि विकलांग बालक बीमार होता है उसका प्रभाव शरीर के विकास पर विपरीत होगा। विकलांग बालकों के व्यक्तित्व के विकास में अवरोध उत्पन्न होता है।

7. दुर्घटनायें– बचपन में हुई दुर्घटनायें भी शरीर की अभिवृद्धि को प्रभावित करती हैं। इनसे कई बार स्थायी तथा अस्थायी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कटाव, हड्डी टूटना, हड्डी का अपने स्थान से हिल जाना, जलना, कुत्ते का काटना, दांत टूटना, विजातीय द्रव्य का शरीर में पहुँचना, संवेगात्मक धक्का, विष, जन्म के समय चोट लगना आदि दुर्घटनायें शरीर के विकास को प्रभावित करती हैं। दुर्घटना की प्रकृत्ति का बाल–विकास पर प्रभाव पड़ता है। कार्ल सी. गैरिसन ने शारीरिक विकास का गहन अध्ययन करके ये निष्कर्ष निकाले हैं–

1. शैशव काल में और स्कूल जाने से पहले के वर्षों में गति विकास का गतिक्रम सुव्यवस्थित होता है और हर आयु स्तर पर विकास में व्यापक अन्तर पाये जाते हैं।

2. प्राथमिक स्कूल के बच्चे के गति विकास पर कई कारकों का विशेष रूप से परिपक्वता तथा अभ्यास पर प्रभाव पड़ता है।

3. प्राथमिक स्कूल के वर्षों में मोटे–मोटे गति कौशलों का विकास बहुत सीमा तक परिपक्वता तथ गत्यात्मकता पर निर्भर करता है।

4. प्राथमिक स्कूल वर्षों में जटिल गति कौशलों का विकास अभ्यास पर निर्भर करता है।

5. गति कौशलों का विकास मूलतः वृश्चिक्र के अनुरूप होता है। इसके देर या जल्दी होने पर प्रभाव गति

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-10, No.-I, Issues-11 YEAR- June -2019

की दक्षता पर पड़ता है।

6. तरुणावस्था तक कई गति कौशलों में लड़कों और लड़कियों की दक्षता लगभग एक जैसी होती है परन्तु तरुणावस्था के बाद गति कौशलों में लड़कियों की निश्पत्ति उत्तम होती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मिश्रा, श्रीमती ऊषा आर अग्रवाल, डॉ0 अलका: स्वास्थ्य रक्षा एवं शरीर विज्ञान, साहित्य प्रकाशन, आगरा–2002
2. शैरी, श्रीमती जी0पी0 : मातृकला एवं शिशु कल्याण, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–1991
3. सिंह अनीता : स्वास्थ्य एवं आरोग्य शास्त्र, स्टार पब्लिकेशन, आगरा, 2007
4. डॉ0 गंगा श्याम गुर्जन : शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा
5. के0के0 वर्मा : स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा
6. बेन्जामीन मिस0 शकुन जे0 "मातृकला एवं शिशु पालन" स्वास्तिक प्रकाशन अस्पताल मार्ग, आगरा–3
7. रानी अनुपम : मातृकला एवं बाल विकास, विश्वभारती पब्लिकेशन्स नई दिल्ली–110002

*****